धर्मायण

(धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना की पत्रिका)

मूल्य : 45 रुपये
अंक 135
आश्विन,
2080 वि. सं.

पितृ-भक्ति विशेषांक

Facsimile copy of the particular article

पितरों का श्राद्ध और तर्पण क्यों है आवश्यक?

भारतीय जनजातियों में पितर की अवधारणा

डा. कैलाश कुमार मिश्र
नृवैज्ञानिक, पूर्व शोध पदाधिकारी,
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली.

'पितर' तथा 'पूर्वजों' के प्रति हमारी अवधारणा, श्रद्धा, श्राद्ध के विधि-विधान केवल शास्त्रीय ग्रन्थों का मुहताज नहीं है। जो लोग श्राद्ध-कर्म तथा पितर की अवधारणा को ब्राह्मण-पुरोहितवाद का ढकोसला मानते विष-वमन करते अघाते नहीं हैं उनके लिए यह आलेख आँखें खोल देने वाला है। जो भारतीय जनजातियाँ शास्त्रीय ग्रन्थों से दूर रही हैं वे भी पारम्परिक रूप से पूर्वजों के प्रति अपने-अपने ढंगे से श्रद्धा व्यक्त करती रही है। लेखक स्वयं एक जाने-माने नृविज्ञानी हैं। इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र के पूर्व शोध-पदाधिकारी रहे हैं। लेखक ने स्वयं भ्रमण कर इन तथ्यों को जुटाया है। इन जनजातीय परम्पराओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि मरणोपरान्त पितर की अवधारणा की जड़ें पहुत गहरी है। यहाँ 'पिता-पितरौ-पितरः' रटाकर केवल जीवित माता-पिता को ही पितर मानने का सिद्धान्त टिकने वाला नहीं है। अण्डमान निकोबार की जारवा जनजाति में समुद्र में जाने से पहले वे देवता मानकर पितरों की स्तुति करते हैं। गोंड आदिवासियों के डूमा देव पितर हैं, जिनके घर में केवल बहू जा सकती है, बेटी नहीं। आइए, इस लेख को पढ़ें-

भारत विविधताओं का देश है। यहाँ की पूरी जनसंख्या का लगभग 8 प्रतिशत भाग आदिवासियों का है जिन्हें आदिवासी, जनजाति, मूलजाति, वनवासी, वन्यजाति जैसे नामों से सम्बोधित किया जाता है। भारतीय संविधान में इन्हे एक अनुसूची के अंदर रखा गया है इसीलिए इन्हें अनुसूचित जनजाति भी कहा जाता है। ये लोग भारत के जंगल, पहाड़, पठार, एवं दुर्गम स्थानों में प्रकृति के साथ ताल से ताल मिलाकर अपना जीवन प्रकृति संतति के रूप में जीते हैं। इनके रहने के, खाने के, उत्सव, अनुष्ठान, लोकाचार, देवता, धार्मिक आस्था, धरती अर्थात प्रकृति के साथ एक अलग और विलक्षण तरीका है। वस्त्र, आभूषण, नृत्य, उत्सव, गीत कुछ इन्हें अलग अस्तित्व प्रदान करते हैं। मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे भारत के अनेक भू-भाग में जाकर समय-समय पर इनमें से अनेक जनजातियों से मिलने का, उनको उनके साथ रहकर समझने का, उनसे उनकी संस्कृति और संस्कारों को समझने और सीखने का अवसर मिला है। मेरी यह यात्रा आज भी गतिशील है। अगर आप मेरे साथ यात्रा करे और आदिवासी समाज में जो पितर पूजा, पितर सम्मान और उनका स्थान है यह देखकर आपको लगेगा कि भारतीय हिन्दू परम्परा के साथ वे कैसे ताल-से ताल मिलाकर चलते हैं। या फिर यह कह लें कि हिन्दूओं ने किस तरह से अनादिकाल से इनके साथ अपने को जोड़ रखा है।

आन्ध्र प्रदेश में कोंडा दौरा आदिवासी महिला संग लेखक

इस आलेख में मैं उन्हीं परम्पराओं और प्रयोग का उदाहरण देने जा रहा हूँ जिसका मैं स्वयं साक्षी रहा हूँ। एक मानव-विज्ञान का छात्र होने के नाते मुझे ऐसा लगता है कि जो बात आप अपने आँखों से देखते हैं, कान से सुनते हैं, जिस समुदाय की बात आप कर रहे हैं, उनके साथ आप रहकर लिखते हैं, और लेखन आप बिना किसी भय, लोभ के कर रहे हैं तो आप 100 प्रतिशत वैज्ञानिक और प्रामाणिक बात लिख रहे हैं। इसपर किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। आपको लगने लगेगा कि व्यवहार की कसौटी पर अधिकांश आदिवासी समुदाय अखिल भारतीय परम्परा में व्याप्त हिन्दू संस्कार को मानते हैं। हो सकता है वे लेखन की शैली से दूर हैं, लोक व्यवहार और मौखिक परंपरा के जीवंत प्रमाण हैं, लेकिन हैं मूल रूप से उसी परम्परा के पक्षधर और अनुयायी। प्राचीन भारत के राजा आदिवासी समाज को सदैव अपना हित ही समझते थे।

एक शिलालेख में सम्राट् अशोक एक आदेश देते हुए अपने अधिकारी को कहते हैं "सबसे पहले ध्यान और कल्याण का कार्य उन वनवासियों के लिए करो जो दुर्गम पहाड़, घने जंगल में रहे हैं। अपनी आवश्यकता को सीमित कर जीवन जीने की कला जानते हैं।" (तेरहवाँ दीर्घ अभिलेख) अशोक शिलालेख को पढ़ते ही सबसे पीछे वाले का विकास सबसे पहले करना है का सिद्धान्त जीवंत हों उठता है।

झारखण्ड राज्य के सिमडेगा जिले में जहाँ मुण्डा और ओरांव जनजाति के लोग रहते हैं एक झरना है जिसका नाम है **रामरेखा धाम**। लोक मान्यता है कि वनवास के समय भगवान राम अपनी पत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मण के साथ यहाँ रुके थे। अभी भी पत्थरों का एक ऐसा प्राकृतिक निर्माण है जिससे विशाल चूल्हे का भान होता है। लोक मान्यता है कि झरने के पवित्र जल से सीता प्रतिदिन इसी चूल्हे पर भोजन पकाती थी। आदिवासी समाज के लोग इस मान्यता का सम्मान करते हैं और अपने आपको राम से रामायण से, हिन्दू धर्म से जोड़कर देखते हैं, बल्कि अपने आपको एक अभिन्न हिस्सा मानते हैं।

गुमला जिले के चैनपुर के समीप पहाड़ी पर अनेक शिव मूर्ति, अन्य देवी देवताओं के साथ गौतम बुद्ध की मूर्ति भी है। इस स्थान को टांगीनाथ कहा जाता है। टांगी का अर्थ कुल्हाड़ी होता है। एक जगह टांगी पड़ा हुआ था उसी के नाम पर इसका नाम टांगीनाथ पर गया। समुखी शिवलिंग की पूजा प्रतिदिन स्थानीय आदिवासी पाहन करता है। सभी आदिवासी वहाँ एकत्रित होते हैं।

गुमला जिले के घाघरा प्रखंड से नेतरहाट के रास्ते में एक स्थान है देवाकी। देवाकी का अर्थ ओरांव भाषा में देव घर होता है। यहाँ के एक नदी के किनारे गुफा और अगल-बगल में अनेक छोटे बड़े शिवलिंग हैं। ये आदिवासी इनकी पूजा करते हैं। इनको अपना परम देवता की संज्ञा देते हैं। अभी कुछ साल पहले वहाँ एक लघु किन्तु भव्य मन्दिर बना दिया गया है।

"ओ राम" कहने वाले कहलाये ओराँव

आप देवाकी से नेतरहाट के रास्ते आगे बढ़ते रहिये। 10 किलोमीटर के बाद एक प्रखंड आता है

चित्र : लेखक के द्वारा

भील आदिवासी पितृदोष निवारण हेतु भोपा (पुजारी) के साथ विमर्श करते हुए।

बिशनपुर। यहाँ मैं तत्कालीन छोटानागपुर खादी ग्रामोद्योग के व्यवस्थापक महेन्द्र नारायण सिंह के साथ मिला। कुछ आदिवासी बुजुर्ग कहने लगे– "राम वनवास इसी रास्ते से गए थे। यहाँ के आदिवासियों ने उनका साथ दिया। बदले में राम भी इन्हें बहुत स्नेह करते थे। राम को ये लोग प्रेम से सदैव "ओ राम ओ राम" कहकर बुलाते। राम, सीता और लक्ष्मण इनके स्नेह से मंद-मंद मुस्काते रहते। ये लोग जंगल से उनके लिए फल, कंद, मूल आदि ले आते, उन्हें प्यार से खिलाते। चूँकि ये सदैव "ओ राम ओ राम" बोलते अतः इनको "ओ राम" के नाम से लोग बुलाने लगे। बाद में ओ राम बन गया "ओराम" और ओराम से "ओरांव"।

बीकानेर का नामकरण

बीकानेर की यात्रा कर रहा था तो पता चला कि बीकानेर का नाम राजा विक्रम सिंह जी को लोग "बीका" के नाम से बुलाते थे और नेरा जो एक भील था के नाम पर पड़ा है। मान्यता है कि एक बार बीका की स्थिति दयनीय हो गयी। उस समय उनका भील दोस्त नेरा अपनी समस्त संपत्ति दे दिया। बीका का कुछ समय के बाद समय बदल गया। अच्छे दिन आये। अब बीका ने एक शहर का निर्माण किया जिसका नामकरण अपने और नेरा के नाम को जोड़कर बीका + नेरा = बीकानेर कर दिया। उदाहारण इतने हैं कि उनको एक जगह नहीं किया जा सकता।

जगन्नाथ देव की मूर्ति बनानेवाले सबरा जनजाति

जगन्नाथ पुरी के मन्दिर में जो तीन मुख्य देवताओं की प्रतिमा – जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा है , इनका निर्माण करनेवाले मूर्तिकार सबरा जनजाति से आते हैं। सबरा भील आदिवासी का एक उपजाति है। इतना ही नहीं, ये पत्थर अथवा धातु से प्रतिमा नहीं बनाते, लकड़ी से बनाते हैं। यहाँ मूर्ति निर्माण से संबंधित विष्णुपुराण का चित्रसूत्र भी इन्हें लकड़ी का प्रयोग और मूर्ति की morphology में यथार्थ से हटकर आदिवासी संकल्पना की आजादी देते है। रथयात्रा के समय कार खिचने से पूर्व मन्दिर के गर्भ गृह में पूजा का कार्य का संपादन भी सबरा आदिवासी का पंडित करता है। देवताओं की काष्ठ की बनी प्रतिमा को बारह अथवा उन्नीस वर्ष में एक सटीक प्रतिकीर्ति से बदल दिया जाता है।

चित्र : लेखक के द्वारा

नागा जनजाति का एक गाँव

गंभीर अवलोकन का विषय यह है कि सबरा काष्ठ कलाकार मूर्ति के जनजातीय स्वरूप को उकेरने में इतना दक्ष होते हैं कि पूर्व की मूर्तियों से तिल मात्र भी अंतर नहीं करते। इस समय ऐसा लगने लगता है कि ये आदिवासी कलाकार वास्तु, दिशा और मूर्ति निर्माण की कला के सर्वोत्तम कलाकार हैं। अर्थ स्पष्ट है दोनों एक दूसरे के पूरक है, एक लोक में प्रवीण है तो दूसरा शास्त्र के साथ चलता है। दोनों ज्ञान परम्परा का आदान-प्रदान आपस में करते हैं। लोक परम्परा और लोक व्यवहार से शास्त्रीय ज्ञान एक निश्चित अनुपात में उनके पास अर्थात् जनजातियों के पास सतत जाते रहता है। लोक ज्ञान अपनी गति से शास्त्र के अधिकारियों तक पहुँच जाता है। दोनों अपने विधि, विधान, अनुष्ठान और कार्य के निष्पादन में सुविधानुसार परिवर्तन लाते रहते हैं। अर्थ स्पष्ट है, जनजातीय जीवन और हिन्दू जीवन बाइनरी ओप्पोसिशन नहीं हैं, एक दूसरे के पूरक हैं।

आदिवासी समाज में पितर को समझने के लिए उनका स्वरुप समझना आवश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मैं कुछ मूल तत्त्व की है।

अण्डमान निकोबार की जारवा जनजाति— पितृ -स्तुति

अब चलते हैं पितर आराधना और पितर तर्पण की ओर। अधिकांश जनजातियों में पितर को देवता और भगवान के बीच मध्यस्थ माना जाता है। अण्डमान निकोबार में रहनेवाली जारवा जनजाति के लोग पितर के माध्यम से अदृश्य देवता से संवाद ऐसे करते हैं जैसे देवता उनके परिवार के सदस्य हों! वे सूर्य के समक्ष खड़े होकर मछली, केला, नारियल या वह सभी सामग्री जो स्वयं खाते हैं अथवा उपयोग में लाते हैं, अपने अपने पितरों को अर्पण करते हैं। जानवरों का रक्त, स्थानीय मदिरा भी चढ़ाते। कोई भी भोज्य पदार्थ अपने पितरों को दिए बिना नहीं करते। उनके लिए सभी दिन पितरों का दिन है। जब जारवा युवक समुद्र में मछली पकड़ने जाने लगते हैं तो समुद्र से अपने नाव पर बैठे बैठे अपने पितरों से निवेदन करते रहते हैं: *"हे पूज्य, भव्य, शक्तिशाली, दिव्य, और सर्वशक्तिमन पितृ, हे देवताओं के समकक्ष बैठने वाले, हे समुद्र, आकाश, पृथ्वी सभी जगह अदृश्य होकर सदैव विचरने वाले पितर, हे घर में, नाव में हर जगह उपस्थित रहने वाले पितर हम घर पर अपने बच्चे, दूध पिलाती एवं गर्भवती महिलाएँ, बुजुर्ग को छोड़कर समुद्र में आ गए हैं। आवश्यकता भर मछली पकड़ कर वापस चले जाएँगे। आप हमारे घर के सदस्यों को हिंसक जानवर यथा सिंह, बाघ, चीता, हाथी आदि से रक्षा करो, उन्हें बीमार न पड़ने दो"*।

इधर घर के लोग अपने पितर से निवेदन करते रहते हैं: *"हे पितर! आप सर्वशक्तिमान हैं। हमारे लोग*

नाव और जाल लेकर मछली पकड़ने गए हैं। वे आवश्यकतानुसार ही मछलियों को पकड़ेंगे। आप देख लो समुद्र उनके वापस आने तक उदंड न बने, तूफ़ान न ले आये, समुद्र के बिषैले साँप उनको डस न ले, खतरनाक जिव उनको निगल न जाए, पानी का वेग उनके नाव को डूबा न दे, इन्हे मृत्यु का सामना न करना पड़े।" पितर उनकी उनकी मान्यता के हिसाब से सुनते हैं उन्हें बचाते हैं। केरल और आंध्र प्रदेश के समुद्री क्षेत्रों में पितर अपने बच्चो को यह निर्देश देते हैं कि कब समुद्र में जाना सुरक्षित रहेगा कब नहीं। बालू के रंग को देखकर यहाँ के आदिवासी समझ लेते हैं। बालू में प्रविष्ट होकर पितर अपने लोगों की रक्षा करते हैं।

सिक्किम और दार्जिलिंग की लेपचा जनजाति

सिक्किम और दार्जिलिंग हिल्स में विशेष रूप से कंचनजंघा छोटी के समीप रहनेवाले लेपचा जनजाति के लोग अपने पितरो की पूजा सिहणीय दारू, फल, रक्त आदि से करते हैं। इनके पितर ही इनके मुख्य देवता अथवा गार्डियन डिटी हैं। इनके प्रथम गार्डियन डिटी कंचनजंघा पर्वतमाला के सर्वोत्तम चोटी पर औषधि, पुस्तक, आदि के साथ रहते हैं। अपने लोगों को देखते रहते हैं। उनकी रक्षा करते रहते हैं।

लेपचा आदिवासी वैसे तो बहुत दिनों से बौद्ध हो चुके हैं फिर भी न तो अपने देवता, न परम्परा न ही पितर को भूले हैं। उनके लिए बौद्ध एक विश्वास का धर्म है जो उनकी परम्परा, पितर, विचार और जनजातीय अनुष्ठान में कहीं भी किसी तरह की वाधा उत्पन्न नहीं करते! गृह निर्माण के समय भी ये लोग आज भी अपने पूर्वजों का आह्वान करना नहीं भूलते। और तो और ईसाई धर्म को माननेवाले लेपचा भी गार्डियन डिटी (संसार का बीजपुरुष) को मानते हैं, अपने कुल के पितर का आह्वान करते हैं और लेपचा आइडेंटिटी के साथ गर्व से अपना जीवन जीते हैं।

चित्र : लेखक के द्वारा

उदयपुर के भील जनजाति के गोतरेज, जहाँ पूर्वजों के स्मारक स्थापित हैं।

गोंड जनजाति में पितृदेव– डूमा देव

भील के बाद गोंड सबसे बड़ा जनजातीय समुदाय है। ये लोग छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, गुजरात, एवं राजस्थान तक हैं। पश्चिम बंगाल तक ये मिलते हैं। पूरा गोंडवाना लैंड इनके नाम। गोंड आदिवासियों में में पितर देव तर्पण घर से बाहर करने की प्रथा नहीं है इसका कारण है कि गोंड अपने पितर देव का अपने घर में नुकांग अड़ा में स्थापित कर हर समय पूजा करते हैं। जब भी कोई अवसर आता है तब गोंड समुदाय के लोग अपने देवताओं के साथ अपने पितरदेव का, जिसे जिसे वे डूमा देव कहते हैं की पूजा करते हैं। गोंड जनजाति समाज के किसी भी खानदान के बड़े घर में नुकांग अड़का अर्थात् चावल हांडी स्थापित होती है।

यह घर खानदान के अन्य लोगों के लिए श्रद्धा का केंद्र होता है और बहुत पवित्र होता है। यहाँउनके पितृ देव याने डूमा देव स्थापित होते हैं। इस कमरे में जहाँ डूमा देव स्थापित होते हैं, उस स्थान पर महिलाओं का जाना वर्जित होता है। बहन बेटियाँ इस कमरे में नहीं जा सकती। केवल बहुओं को जाने की इजाजत है कारण की वे खानदान के गोत्र में सम्मिलित हो चुकी हैं। इसमें भी एक शर्त है उन्हीं बहुओं को इस कमरे में

जाने की इजाजत होती है जिसका पहला बच्चा लड़का होता है। इस प्रथा और निषेध देखकर लगता है कि यह एक तरह से मुख्यधारा हिन्दू से ऐसे मेल खाता है जैसे किसी व्यक्ति की मृत्यु पर उसकी बहू ही अनुष्ठानिक कार्य के लिए भोजन पकाएगी, स्थल पवित्र करेगी, अनुष्ठान का सञ्चालन करेगी, इत्यादि।

इस तरीके से यह बहुत पवित्र स्थान होता है। खानदान के लोग अपने पितृदेव को अपना रक्षक देव मानते हैं और जब भी उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट होता है, तो वह सबसे पहले अपने डूमा देव के शरण में आते हैं और आस्था और विश्वास कहिए उनका कष्ट का निवारण होता है। नुकांग अड़का या चावल हांडी में पितृदेव को मृत्यु संस्कार के बड़े काम के दिन सम्मिलित किया जाता है। जनजाति समाज में विषम गोत्री रिश्तेदार जिन्हें अक्कू मामा कहते हैं का बहुत महत्व होता है।

इन्हीं लोगों के द्वारा मृतक परिवार की शुद्धिकरण की जाती है और उसी दिन मृत्यु स्तम्भ बनाया जाता है। मृत्यु स्तंभ बनाने के बाद सब नहाने के लिए जाते हैं। आपको मामा परिवार मृतक परिवार को चुन माटी मुलतानी माटी देकर नहाने को कहता है और वह शुद्ध होते हैं। इसके बाद मृत्यु स्तंभ के पास अक्कू मामा परिवार भोजन बनाता है और मृतक को भोग लगाते हैं बचे हुए चावल को एक नए हड्डी में डालकर फिर से नहाने के घाट जाते हैं। वहाँ एक मछली पकड़ कर हड्डी में रखकर पुजारी माटी गांयता उसे लेकर मृतक परिवार के घर आते हैं। जहाँ उसे पूरे अनुष्ठान के साथ चावल हांडी में स्थापित कर पितृदेव बनाया जाता है।

मृतक आत्मा का चावल हांडी में प्रवेश हुआ या नहीं इसका विधिवत परीक्षण किया जाता है। एक चूजे को चावल टोकाया जाता है यदि चूजे ने चावल खा लिया तो समझा जाता है की आत्मा पितृदेव के रूप में घर में प्रवेश कर चुकी है। उसके बाद उनकी विधिवत पूजा कर शराब तर्पण किया जाता है। इसी तरीके से एक गाँव में एक गोत्र के लोग निवासरत होते हैं उन सबके परिवार में जितने लोग भी मृत होते हैं। उन लोगों की आत्मा को गाँव में ही एक जगह स्थापित की जाती है इसे आना कुड़मा कहते हैं।

देव मन्दिर से भी छोटी संरचना होती है और यहाँपूरे गाँव के एक गोत्र के लोगों का आत्मा को स्थापित किया जाता है। ऐसा करने के पीछे जनजाति समाज की सोच है कि मृतक आत्माएँ एक साथ रहेंगे तो उनका प्रभाव ज्यादा होगा और गाँव में आने वाली बुरी शक्तियों को वे नष्ट करेंगे। इस प्रकार जनजाति समाज अपने पितर देव को विसर्जित नहीं करता बल्कि वे उसे ससम्मान अपने घर में स्थापित करते हैं और जब भी देव उत्सव का पूजा होता है। उनकी विधिवत पूजा की जाती है और उन्हें बलि एवं तर्पण दी जाती है जनजाति समाज के पितृदेव उनके रक्षक देव होते हैं जो हर समय उनकी सहायता करते हैं।

संताल जनजाति में अंत्येष्टि

संताल जनजाति के लोग मृतक को जलाते और दफनाते भी हैं। अगर कोई संथाल मृत शरीर को दफनाता भी है तो उसके मुख में अग्नि जरुर देता है। इसी समय मृत शरीर से सिर के थोड़े से केश तथा अंगुलियों के नाखून काटकर रख लिये जाते हैं तथा दफनाने की क्रिया समाप्त होने पर केश तथा नाखून को नदी नाले में प्रवाहित कर दिया जाता है। संतालों में शरीर को जलाया या दफनाया जाय लेकिन इसके बाद समस्त मृत्यु संस्कार सम्बन्धी क्रियाओं को करना अनिवार्य है। अगर बालक या बालिका का "चाचो छठियार" सम्पन्न हो गया है और दुर्भाग्यवश उसकी अकाल मृत्यु हो जाती है तो उसे पैतृक जमीन पर दफनाया अनिवार्य है। जबकि छठियार सम्पन्न नहीं हुए बालक को पैतृक जमीन पर नहीं दफनाया जाता है।

संताल समुदाय महामारी संक्रामक रोगों से पीड़ित मृत व्यक्तियों के मुख में अग्नि नहीं देते हैं। उनका ऐसा मानना है कि अग्नि देने से महामारी या संक्रामक रोग सम्पूर्ण गाँव में अग्नि की प्रचण्ड पलटों के समान ही फैल जायेगी तथा गाँव की सारी आबादी भी इन रोगों के चपेट में आ जायेगी। अत: ऐसे मृत शरीर को अधिकतक दफनाते ही हैं और जलाते हैं तो मुख में अग्नि कभी नहीं देते हैं।

संताल समुदाय मृत्यु संस्कार पर पोचोय (मदिरा) दिल खोलकर सेवन करता है।

गाँव का गोड़ैत गाँव के लोगों को खबर देता है कि मृत शरीर को जलाने या दफनाने ले जाना है अत: सभी लोग शीघ्र एकत्रित हो। इधर शोकित परिवार की महिलायें मृत शरीर को नहला देती है, सूखे कपड़े से मृत शरीर को पोछकर चेहरे तथा पैर पर तेल लगाती है। उसके पश्चात् मृत शरीर को कफन से ढ़क दिया जाता है और पुरुष सदस्य मृत सदस्य मृत शरीर को चारपाई या अर्थी पर लेकर निश्चित स्थान की ओर प्रस्थान करते हैं। अगर मृत शरीर को जलाना है तो लकड़ी का "सारा" बनाया जाता है। अगर पिता का मृत शरीर है तो उसका पुत्र उसके मुख में सूखे घास को जलाकर आग देता है, तपश्चात् सम्पूर्ण "सारा" को अग्नि देता है। (अगर मृत्यु शरीर को दफनाना है तो भी कब्र के चारों तरफ तीन या पांच बार घुमाया जाता है उसके पश्चात् कब्र में रखकर मुख में अग्नि दी जाती है) मृत शरीर के जले हुए अवशेष से पुत्र एक हड्डी को चुनकर अपने मुट्ठी में बन्द कर लेता है, उसके बाद स्नान करके घर की ओर प्रस्थान किया जाता है। इन सभी व्यक्तियों को घर के दरवाजे के बाहर ही हाथ-पैर धोना पड़ता है, फिर वे घर में प्रवेश करते हैं और मदिरा का सेवन करते हैं। पुत्र मुट्ठी में बन्द हड्डी को प्रेमपूर्वक एक मिट्टी के बर्तन में रख देता है जिसे "जाड़ा वाहा" कहते हैं।

इसी दौरान शोकाकुल परिवार की महिलायें घर की लिपाई-पुताई गोबर से करती है और अपवित्र समझे जाने बर्तनों को घर से बाहर फेंक देती है। उसके पश्चात् वे नदी नाले में स्नान करने चली जाती हैं। जैसे-जैसे यह दुखित सन्देश रिश्तेदारों तथा कुटुम्ब के लोगों को मिलता है वैसे-वैसे एक सप्ताह तक वह शोकित परिवार को सान्तवना देने पहुंचते रहते हैं।

मृत्यु के नवें दिन पर "आन्ना" किया जाता है। "जाड़ा-वाहा" (अवशेष हड्डी जो मिट्टी के छोटे बर्तन में रखी है) को गाँव की सीमा के बाहर पुत्र ले जाता है तथा "जाड़ा वाहा" को एक केन्द्र के लकड़ी के दीया (लैम्प) पर रख देता है। उसके पश्चात् पुत्र हड्डी को मुट्ठी में बांध लेता है और उपस्थित सभी पुरुष-स्त्री पत्ते के दोने से जल मुट्ठी पर बारी-बारी गिराते हैं और अन्त में पुत्र बायें हाथ से एक केन्द्र के लकड़ी से दीया तथा बर्तन को फोड़ देता है। पश्चात् वे सभी नदी की ओर प्रस्थान करते हैं। महिलायें स्नान के पश्चात् अपने-अपने घर वापस लौट आती हैं। पुरुष सदस्य नदी के तट पर ही बालु में वेदी बनाते हैं। मृत व्यक्ति के नाम अरवा चावल, दूध, मिठाई आदि चढ़ाया जाता है उसके पश्चात् पुत्र "जाड़ा वाहा" को नदी के जल में प्रवाहित कर देता है। तत्पश्चात् स्नान करके सभी लौट आते हैं। घर के दरवाजे पर ही अपने पत्नी या अपनी बहन द्वारा पुत्र का पैर धोया जाता है, भगवा कपडे भी बदल लेता है। पुन: घर के आंगन में बेदी बनाकर पूजा की जाती है तथा मृत व्यक्ति को एक मुर्गी अप्रित की जाती है, जिसे ओडाक कहते है। इस क्रिया के पश्चात् पोचोय (मदिरा) की भी पूजा की जाती है और सपरिवार सेवन किया जाता है।

अब उस मृत व्यक्ति का "भांडान" किया जाता है तथा इसकी पूर्व सूचना सारे रिश्तेदारों, कुटुम्ब को चार -पांच दिन पहले ही भिजवा दी जाती है, जिससे सभी सम्मिलित हो सके। गाँव के परिवारों को भी सूचना दी

चित्र : लेखक के द्वारा

छत्तीसगढ़ के गोण्ड आदिवासी अपने पूर्वज की पूजा करते हुए

जाती है। इस दिन घर की लिपाई-पुताई की जाती है तथा स्नान के पश्चात् भांडान में उपस्थित सभी व्यक्तियों को चूड़ा (मूढी) जलपान के रुप में दिया जाता है।

बीच आंगन में मांडोली (पूजा-स्थल) बनाकर मृत व्यक्ति के नाम से पूजा की जाती है, जिसमें धनी परिवार मृत के नाम पर बैल की बली चढ़ाता है, आर्थिक स्थिति कमजोर होने पर सूअर-बकरी की बलि भी चढ़ा सकता है। उपस्थित रिश्तेदार तथा गाँव के लोग भी अपनी हैसियत तथा इच्छानुसार मृत के नाम सूअर, बकरी, मुर्गी इत्यादि बलि चढ़ाते हैं। इस दिन मृत व्यक्ति का परिवार "भोज-भात" की व्यवस्था करता है। उपस्थित सभी व्यक्तियों को खिलाया-पिलाया जाता है। बलि किये हुए मांस में से कुछ मांस को गाँव के गली में पकाया जाता है तथा यह मांस सिर्फ पुरुषों द्वारा ही गली में ही खाया जाता है, लेकिन भांडान करने वाले परिवार के पुरुष सदस्य नहीं खाते हैं। संताल समुदाय का विश्वास है कि ऐसा करने से मृत व्यक्ति का अब घर से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इस प्रकार मृत व्यक्ति का "भांडान" सम्पन्न होता है।

इन सब क्रियाओं के दौरान ही कभी-कभी वहाँ उपस्थित पुरुष सदस्यों में से एक या दो झूमने लगते हैं। संतालों का विश्वास है कि इनके अन्दर मृत व्यक्ति की आत्मा प्रवेश करती है। इन दोनों व्यक्तियों के सामने नया सूप तथा चावल रखा जाता है। मृत व्यक्ति के रुप में झूमने वाला व्यक्ति परिवार के सभी सदस्यों से पानी मांगता है। उसके पश्चात् वह परिवार के भविष्य के बारे में बतलाता है, सुख-दुख, विपत्तियाँ

बतलाता है।

"भांडान" में खिलाना-पिलाना अर्थात भोज भात छ: महीने या एक साल बाद भी हो सकता है। यह भांडान करने वाले परिवार के आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है।

मेवाड़ की भील जनजाति के गोतरेज

मेवाड़ के उदयपुर के अगल बगल के भील जनजातियों के साथ कार्य कर रहा था। भील भगवान शिव के भक्त हैं। उनकी पूजा अर्चना करते हैं। और तो और लगभग 30 किलोमीटर की पहाड़ी के चारो तरफ उन्होंने लघु अथवा मिनिएचर भारत का निर्माण लोककथा और शिवलिंग के माध्यम से कर लिया है। इस पहाड़ी को स्थानीय भाषा में इन्या पहाड़ी कहते हैं। पहाड़ी के बारह स्थान पर बारह लघु द्वादश लिंग की स्थापना है। भील आदिवासी देवता के स्थान को देवड़ा कहते हैं। एक देवड़ा पर गया। भील पुजारी जिसको वे भोपा कहते हैं ने मुझे बताया कि देवड़ा के अगल बगल में भीलों के पूर्वज का स्थान है। उस स्थान को वे लोग गोतरेज कहते हैं। गोतरेज अर्थात गोत्र के पूर्वज। वहाँ जब गया तो देखा कि अनेक जगह जहाँ मृतकों को जलाया गया है वहाँ कुछ अलग तरह की मूर्ति बने हुए हैं। उदाहरण के लिए एक महिला गर्भ से थी ऐसा बनाया गया था। एक पुरुष ट्रक चलाता हुआ बनाया गया था।

हमने पूछा: "इस तरह की मूर्तियों को उकेरने के पीछे क्या कारण हैं?"

भोपा कहने लगा:"यह एक ऐसी महिला पूर्वज की छवि है जो गर्भ से थी और बच्चे के जन्म के समय प्रसव पीड़ा से खत्म हो गई। बाद में वह उग्र भूत बन गई। परिवार और कुल के लोगों को परेशान करने लगी। अन्त में भोपा ने बताया कि उसकी पूजा करो,उसको प्रसन्न करो, वहाँ पर बकरे को बलि दो और उसका मूर्ति बना कर गोतरेज में स्थापित करो।" परिवार के लोगों ने यही किया। तबसे सब कुछ कुशल मंगल है।"

देवड़ा कहता रहा: "हमारे यहाँ पितर देवता से कम नहीं हैं। हम उनकी निमित पूजा, आराधना और अनुष्ठान करते हैं। पितर प्रसन्न रहेंगे तो अब कुछ सही रहेगा। ये जो ट्रैक ड्राइवर वाला मूर्ति देखते हैं वह भी एक भील पितर है। ट्रक चलाता था। बहुत दिन तक घर नहीं आया। जब एक साल हो गए तो परिवार के लोग भोपा के पास आए। भोपा ने बताया कि किसी दुर्घटना में ट्रक चलाते हुए वह मारा गया। उसकी आत्मा की शान्ति के लिए अनुष्ठान किया गया। फिर ट्रक चलाते हुए मूर्ति भी बनाकर स्थापित किया गया। अब वह गुणकारी पितर है और अपने परिवार और गाँव के लोगों की भलाई और रक्षा करता है। "

और भी अनेक मूर्ति थे जिसपर अलग से कभी लिखूँगा।

पितृपक्ष में सांझा भित्त-चित्र

वहाँ से आगे हमलोग मेवाड़ की हल्दी घाटी गये। पितृपक्ष का समय था। वहाँ की महिलाएँ खासकर कुँवारी लड़कियाँ और वैसी लड़कियाँ जो इसी वर्ष बियाही गई हैं, सांझा नमक लोकभित्ति चित्र का निर्माण घरों के बाहरी दीवार पर दक्षिण दिशा में करती हैं। चित्र बनाने की परम्परा में मुख्य वस्तु गाय का गोबर है। प्रतिदिन लड़कियाँ सुबह में उठकर गाय के गोबर फूल पत्ती, रंगीन कागज, आदि एकत्रित कर लेती हैं और शाम को एक वर्गाकार स्थान का निर्माण करती हैं। ऊपरी छोर पर चाँद-सितारे तो नित्य ही बनाती हैं । चयनित स्थान को सर्वप्रथम गीली मिट्टी और गोबर से पोतकर कैनवास का स्वरूप दे दिया जाता है। लड़कियों को इस क्रिया में अनुभवी और बुजुर्ग महिलाओं का भी भरपूर सहयोग मिलता है। फूल पत्ती के साथ साथ ज्वार, बाजरे की बाली, कौड़ी, फॉइल, बांस , इत्यादि का प्रयोग होता है। लाल माटी का प्रयोग

गेरुआ रंग के लिए होता है। हल्दीघाटी में लोग निम्नलिखित फूलो की पंखुड़ी का प्रयोग करते हैं:

गुल तिवाड़ी, गेंदा लाल, चमेली, बारहमासा अथवा सदा सुहागन ।

स्पष्ट करता चलूँ कि गुलाबी, सफेद, बुलाबी ब्राउन, रंगों का प्रयोग उनके स्थानीय सौंदर्य के परिचायक हैं। अच्छा हागर नमक पौधे के बीज को पीसकर आकृतियों के आंख आदि बनाने का कार्य किया जाता है।

प्रथम आकृति ज्यामितीय स्वरूप में त्रिकोण की तरह है जो एक मानवी का प्रतीक है। इस मानवी स्वरूप का निर्माण गाय के गोबर से ही किया जाता है। इसको सायं काल निर्धारित कैनवास के ऊपरी हिस्से के बाएँ दिशा में बनाया जाता है।

बीच में कुछ गोबर का 'थम्ह' (स्तम्भ) बना दिया जाता है। सूरज, चाँद-सितारे प्रतिदिन बनाए जाते हैं। अब प्रतिदिन सुबह में उन बिम्बों को मिटा दिया जाता है। सूरज, चाँद, सितारे और त्रिकोण के रूप में सांझा को रहने दिया जाता है। एक कौए को भी बिम्ब के रूप में बनया जाता है। प्रति दिन कुछ न कुछ बनाया जाता है। उदाहरण के लिए पहले दिन एकम अर्थात एक फूल या कुछ इसी तरह का बिंब बना दिया जाता है। दूसरे दिन पगल्या अर्थात दो पैर का बिम्ब तैयार करते हैं। तीसरे दिन तीन तिवाड़ी अर्थात तीन खिड़की बनाया जाता है। ऐसे बिंब और मोटिफ का चयन किया जाता है जो तिथि के साथ मेल खाता हो। षष्टी के दिन छाबरी बनाते हैं। तो नवमी के दिन नौ मात्रिका। कहीं कहीं पर कैनवास (गोहाली) आयताकार, गोलाकार, त्रिभुजाकार भी होते हैं। इस तरह से लड़कियाँ तिथि के अनुसार विभिन्न आकृतियों का निर्माण करते रहती हैं जिनमे प्रमुख हैं:

बांदरवाल, बीजना (हाथ के पंखे), तीन तिबाड़ी, चौपड़, पाँच कुँवारे, फूल छड़ी, सातिया, आठ पंखुरी के फूल या अष्टकोणी बजोट, दस पकवान, जनेऊ, सीढ़ी, हल, दंताली, घेवर, छावरी, दीपक, खजूर, इकतारा, सत ऋषि, डोकरा डोकरी, मीराबाई, नगाड़े की जोड़, बादशाह की सवारी, आदि।

सांझा पितृपक्ष में ही क्यों मनाया जाता है इसके बारे में एक मान्यता यह है कि इस क्षेत्र में एक महिला थी जिसका नाम सांझा था। वह बहुत खूबसूरत थी। उसके माता पिता का निधन बचपन में हो गया। उसकी शादी एक लँगड़े ब्राह्मण से कर दिया गया। ब्राह्मण उसे बहुत तंग करता था। सांझा की सौत भी थी जो भी उसे परेशान करती थी। सभी मिलकर सांझा को परेशान करते । अन्त में सांझा दुख झेलते हुए मर जाती है। सांझा को नव मात्रिका लेने आती है। सांझा को स्वर्ग मिलता है। उसको मात्रिका का स्थान भी मिलता है। खोरिया ब्राह्मण को उसके पाप की सजा मिलती है।

अब सांझा स्वर्ग से देवी बनकर अपनी धरती की लड़कियों का कल्याण करती हैं। देखती हैं उनके समान किसी का शोषण तो नही हो रहा है।

साँझा का विधान बहुत लम्बा चौड़ा है। लेकिन एक बात स्पष्ट है कि लोक पुरुष और छद्म ब्राह्मण दोनों का त्याग कर एक अलग और स्वतंत्र विधा स्वीकार कर रहा है। सनातन साश्वत है। परम्परा पर लोक अपना अलग मुहर लगा दिया है। नारी ने स्वाधिकार ले लिया है। पितर अभी भी पूजित हैं, तनिक विधान बदल चूका है। यह जो स्पेस है वह आपको हिन्दू धर्म में ही मिलेगा।

दुसाध जाति के लोगों ने भी कभी स्वयम पुरोहित का कार्य करना शुरू कर दिया था। इसका विरोध न तो हिन्दू धर्म ने किया न ही ब्राह्मणों ने। दुसाध फिर भी सनातन समाज के अभिन्न अंग बने रहे।

पितरों के लिए लटकाए गये घड़े

नागा जनजाति में पितर की अवधारणा

नागा जनजाति के लोग अपने बुजुर्गों को और पितरों का बहुत सम्मान करते हैं। उनको अपने गाँव की सीमा में रखते हैं। उनको देवता की तरह पूजते हैं। दुर्भाग्य से अधिकांश नागा ईसाई धर्ममावलम्बी हो गए हैं। उन्होंने नागा जाति को ने कुचला, उनकी काष्ठ कला, उनके युवक, उनकी संस्कृति को ख़त्म करने का प्रयास किया गया। डर और लोभ से नागा को ईसाई बना दिया गया। ईसाई में भी कैथोलिक ईसाई नहीं बनाया गया क्योंकि उन्हें डर था कि जैसे कैथोलिक ईसाई भगवान ईसा मसीह के साथ-साथ उनके माता पिता, कुछ एंजेल, एवं सन्तों की मूर्तियों की भी पूजा कर सकते हैं। ठीक इसी तरह से ईसाई होते हुए भी नागा अपने पूर्वजों एवं अनेक देवताओं की पूजा अर्चना करते रहेंगे। नागा लोगों को भूत-प्रेत आदि में बड़ी श्रद्धा होती है, तथा समय-समय पर ये लोग उनकी पूजा आदि भी करते हैं। जिस समय ये लोग कोई युद्ध आदि जीत कर आते हैं, तो मदिरा-पान कर के प्रेत पूजा करते हैं, तथा खूब नाचते गाते हैं। मृत्यु आदि संस्कार करने के लिये भी इन में बड़ी अनोखी रीतियाँ प्रचलित हैं। नागा लोगों में एक जाति ऐसी भी होती है, जो अपने मृतक हितैषियों के शव के साथ दो भाले रख देती हैं। इनका विचार है, कि इनकी सहायता से स्वर्ग तक पहुँचने के लिये मार्ग में उसके सामने कोई विघ्न-बाधा उपस्थित नहीं हो पाती।

नागा समाज के लोग आज भी अपने बुजुर्गों का बहुत सम्मान करते हैं। उनके सभी निर्णय बुजुर्ग ही लेते हैं। बुजुर्ग महिला और पुरुष दोनों का सम्मान नागा समाज में है।

आज से करीब सौ साल पूर्व नागा समाज में कहीं कहीं दो युवक एक नागा सुन्दरी का हाथ पत्नी के रूप में प्राप्त करने के लिए आपस में लड़ते थे। दोनों में से जो बलिष्ठ होता वह दूसरे का सिर तीक्ष्ण हथियार से काट देता। सिर का धड़ से अलग होते ही वह व्यक्ति अर्थात् मृतक पितर बन जाता। उसके सिर को सम्मान से लाया जाता। एक वीर पितर के रूप में लड़कियाँ उस सिर की पूजा करती। फिर धड़ के साथ उनका संस्कार किया जाता। उनका सम्मान पितर की तरह होता था।

अन्त में एक उदाहरण देना चाहता हूँ। जब अंग्रेज गिरमिटिया मजदूर विभिन्न देशों में भेजने लगे तो ब्रह्मपुत्र नदी के एक कछेर से कुछ युवकों को बड़े बड़े नाव में बैठाकर कोलकाता ले गए। गाँव वालों को यह आश्वासन दे गए कि 15 दिन में वापस भेज देंगे। गाँव वाले 15 दिन तक प्रतीक्षा करते रहे. वे नहीं आये। कहाँ आते भला! वे लोग तो दुसरे देश भेज दिए गए थे। गाँव वाले और उनके सम्बन्धी अब हरेक पन्द्रह दिन पर उन्हें इस आशा से देखने आते कि शायद वे आ जाएँ। वे आज तक नहीं आये। फिर उनको हरेक साल उस तिथि से 7 दिन के लिए एकत्रित होकर ब्रह्मपुत्र नदी के लहरों में प्रतीक्षा करते। अब भी हरेक बारह साल पर वहाँ एक शोक मेला लगता है . लोग अपने खोये पूर्वजों का आज भी प्रतीक्षा करते हैं।

आदिवासी समाज सही अर्थ में हिन्दू मुख्यधारा का अभिन्न अंग रहा है। यह परम्परा आज भी शाश्वत है। इसपर गम्भीर कार्य करने की आवश्यकता है।

***